



## International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2021; 7(4): 117-120

© 2021 IJSR

[www.anantaajournal.com](http://www.anantaajournal.com)

Received: 06-05-2021

Accepted: 21-06-2021

**डॉ. दीप लता**

शोध-निर्देशक, हिमाचल प्रदेश  
विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला,  
हिमाचल प्रदेश, भारत

**दीपक कुमारी**

शोध-कर्त्री, हिमाचल प्रदेश  
विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला,  
हिमाचल प्रदेश, भारत

### याज्ञवल्क्यस्मृति में व्यवहार-विवेचन (मिताक्षरा के सन्दर्भ में)

**डॉ. दीप लता एवं दीपक कुमारी**

**प्रस्तावना**

स्मृति शास्त्र को संस्कृत वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण तथा मानव जाति का आचार शास्त्र माना जाता है। सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् ही स्मृति ग्रन्थों की रचना हुई, जिसमें मानव जाति को असभ्यता से सभ्यता की ओर अग्रसरित करने का कार्य किया। स्मृतिकारों ने प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया है। धर्मशास्त्र में मनु के पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्य का स्थान है, जो वेदों का अध्ययन करने वाले और मिथिला नरेश जनक के गुरु थे। इन्होंने याज्ञवल्क्यस्मृति जैसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना करके व्यवहारिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। मेरी रुचि व्यवहारिक क्षेत्र में ज्यादा रही ताकि मैं यह बता सकूँ कि याज्ञवल्क्यस्मृति में मानव जीवन के सुख एवं समाज को पूर्णरूप से संयत करने वाले विषयों का इतना सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है कि उनसे समाज के लिए उपयोगी एवं वैधानिक आचार संहिता तैयार की जा सकती है। आधुनिक युग में भी यदि इन व्यवस्था का पालन किया जाए तो सामाजिक विघटन को रोका जा सकता है तथा एक सुखी और शान्तिमय राष्ट्र की कल्पना की जा सकती है। इसीलिए "मिताक्षरा के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्यस्मृति में व्यवहार-विवेचन" को मैंने अपने शोध पत्र का विषय बनाया।

याज्ञवल्क्यस्मृति की रचना विशेष रूप से व्यावहारिकता की दृष्टि से की गई है। मुसलमानों के आगमन से पूर्व देश के अधिकांश भाग में राजकीय कानूनों का आधार इसी स्मृति को माना जाता था। इस पर मुख्य रूप से विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क और शूलपाणि द्वारा रचित चार टीकायें प्रसिद्ध हैं। विज्ञानेश्वर रचित "मिताक्षरा" टीका विद्वत् समाज में प्रमाणिक मानी जाती है। काणे ने लिखा है— विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में अपने पूर्व के दो सहस्र वर्षों से चले आये मत्तों के सारतत्त्व को ग्रहण किया और ऐसा रूप खड़ा किया जिसके प्रकाश में अन्य मत्तों एवं सिद्धान्तों का विकास हुआ।<sup>1</sup> व्यवहार से तात्पर्य उन विवादों अथवा विषयों से है जिन पर न्याय किया जाये। "अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहार"।<sup>2</sup> अर्थात् अन्य व्यक्ति के विरोध करने पर अपने अधिकारों का वर्णन करना व्यवहार कहलाता है। व्यवहार शब्द वि और अव उपसर्गपूर्वक हृ धातु तथा धञ् प्रत्यय से मिलकर बना है।<sup>3</sup> जिसका सामान्य अर्थ आचरण, बर्ताव, लेन-देन, न्यायिक एवं अदालती कार्य विधि, किसी अभियोग या मामले की छानबीन करना होता है। लाखों वर्ष पहले जब लोग सत्यवादी, धर्म का पालन करने वाले तथा अहिंसा प्रिय थे तो उन्हें व्यवहार की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु समय परिवर्तन के साथ धीरे-धीरे उनमें हिंसा, घृणा, लोभ इत्यादि विकार उत्पन्न होने लगी। चारों तरफ अराजकता का वातावरण फैल रहा था। समाज धर्म विहिन लगने लगा तभी धर्म रक्षकों ने मानव जाति तथा विश्व कल्याण के लिए व्यवहार की स्थापना की। व्यवहार में वादी-प्रतिवादी के पक्षों को देखने के लिये राजा ने अन्य सभासदों की नियुक्ति की—

नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।  
पूर्व पूर्व गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम् ॥<sup>4</sup>

मनुष्यों के व्यवहार कार्य को देखने के लिए राजा ने पूग, श्रेणी और कुल आदि की स्थापना की तथा उनमें व्यवहारों को करने के लिए पूर्व-पूर्व को श्रेष्ठ भी बनाया। राज्य में शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित हो, इसके लिए सभी परिषदों में कार्यों का बटवारा किया।

वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक न्यायिक व्यवहार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सभा आदि परिषदों पर हुआ करता था। परिषद जो कहती वह धर्म मान लिया जाता। राजा द्वारा चुने सभासदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्गों के तीन या चार विद्वान् हुआ करते थे, परन्तु शुद्र को कभी भी सभा का सदस्य नहीं बनाया जाता था।

**Corresponding Author:**

**डॉ. दीप लता**

शोध-निर्देशक, हिमाचल प्रदेश  
विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला,  
हिमाचल प्रदेश, भारत

सभासदों का मुख्य कार्य राजा को परामर्श देना तथा व्यवहार कार्य में उसकी सहायता करना होता था। यदि राजा मन्त्रियों के कहने पर व्यवहार देखने में अन्याय करे तो सभासदों को इसका निवारण करना चाहिए। क्योंकि कहा जाता है कि अन्याय से चलते हुए राजा के पीछे जो सभासद चलते हैं, वे भी उस पाप के भागी होते हैं “अन्यायेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः।”<sup>5</sup> न्यायाधीश के रूप में राजा को नियमों के अधीन रहकर कार्य करना चाहिए तथा दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। न्यायिक व्यवस्था में राज्य के सभी व्यक्तियों को एक समान अधिकार प्राप्त है। यहाँ तक कि जिस ब्राह्मण के प्रति पक्षपात का दोषारोप किया जाता है, अपराध के आगे वह भी अन्य जातियों के समान दण्ड का भागी होता है।

याज्ञवल्क्य ऋषि लिखते हैं कि व्यवहारिक कार्यों का निर्णय होने तक किसी भी व्यक्ति को अपराधी घोषित नहीं करना चाहिए। “अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्।”<sup>6</sup> ऐसा इसलिए कहा है क्योंकि अभियोग प्रायः झूठे भी हुआ करते हैं। अतः व्यवहार का निर्णय करते समय राजा को वेद, धर्मशास्त्र, उपवेद आदि को प्रमाण मानकर निर्णय करना चाहिए। कुछ विवादों में अनुमान को भी प्रमाण मानना चाहिए। इस पर मनु का कथन है जिस प्रकार एक व्याध रक्तकणों के चिह्न से मृग का पता लगा लेता है, उसी प्रकार राजा को भी अनुमान के आधार पर दोषी का पता करना चाहिए।

यथा नयत्यसूक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्।  
न्येतथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम्॥<sup>7</sup>

मिताक्षरा टीकाकार शंकाभियोग और तत्त्वाभियोग अभियोग के दो रूपों का उल्लेख करते हैं<sup>8</sup> तथा इनकी व्याख्या नारदस्मृति में लिखित श्लोक के माध्यम से करते हैं—

द्वयभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्त्वाभियोगताः।  
शङ्का सतां तु संसर्गात्तत्त्वं होढाभिर्दण्डनात्॥<sup>9</sup>

अर्थात् अभियोग दो प्रकार का होता है— शंकाभियोग और तत्त्वाभियोग। न्याय को महत्त्व न देने वाले असज्जन व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से हानि की आशंका से किया गया अभियोग शंकाभियोग तथा किसी दूसरे के धन को चुराता देखकर अपने धन के चोरी होने की आशंका से किया गया अभियोग तत्त्वाभियोग होता है।

अभियोगों का निर्णय धर्मशास्त्र ग्रन्थों में चार चरणों के आधार पर किया गया है। प्रथम किसी व्यक्ति से सूचना प्राप्त करना, द्वितीय में उस सूचना को व्यवहारपदों के अनुकूल किसी एक में रखना, तृतीय दोनों दलों की बहस एवं साक्षियों पर विचार करना, चतुर्थ चरण में विवादों का निर्णय करना। याज्ञवल्क्यस्मृति में इन चरणों को चतुष्पाद की संज्ञा दी है। “चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः।”<sup>10</sup> याज्ञवल्क्य ऋषि ने इन चार पादों की व्याख्या नहीं की, किन्तु मिताक्षरा टीका में विज्ञानेश्वर ने लिखा है— “तत्र प्रत्यर्थिनोऽग्रतोलेख्यं इति भाषापादः प्रथमः। श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यम् इत्युत्तरपादो द्वितीयः। ततः अर्थी लेखयेत्सद्यः इति क्रियापादस्तृतीयः। तत्सिद्धौसिद्धिमान्पोति इति साध्यसिद्धिपादश्चतुर्थः।”<sup>11</sup>

प्रत्यर्थी के आगे लिखे गये वाद को भाषापाद कहते हैं। यह व्यवहार का प्रथम चरण है। इसमें आवेदन किया जाता है तथा उसके पश्चात् न्यायाधीश एवं प्रतिवादी के सम्मुख उसका भाषण लिखा जाता है। आवेदन में अर्थी और प्रत्यर्थी का नाम, पता, वर्ष, मास, पक्ष, दिन, जाति आदि लिखा जाता है।

प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना।  
समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम्॥<sup>12</sup>

द्वितीय पाद उत्तरपाद होता है। न्यायाधीश वादी—प्रतिवादी द्वारा दिये गये उत्तरों को सुनता है। वादी के वाद को सुनने के उपरान्त प्रतिवादी द्वारा दिये गये उत्तर को वादी के सामने लिखा जाता है। इसे प्रश्नोत्तर पाद भी कहा जाता है। तृतीय क्रियापाद व्यवहार निर्णय का महत्त्वपूर्ण भाग है। अर्थी—प्रत्यर्थी के द्वारा लाये गये प्रमाण, साधन, साक्षी इत्यादि की सहायता से प्राड्विवाक अभियोगों का निर्णय करता है। क्रिया की सिद्धि के लिए याज्ञवल्क्य ने चार प्रमाणों का वर्णन किया है।

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्।  
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते॥<sup>13</sup>

विवाद में लिखित, भुक्ति और साक्षी तीन प्रमाण हैं, किन्तु इनमें से किसी के भी न होने पर चतुर्थ दिव्य प्रमाण को स्वीकार किया है। शास्त्रकार यह भी लिखते हैं यदि इन चारों प्रमाणों से भी अभियोग का निर्णय न हो सके तो राजा को विद्वान् ब्राह्मणों की सहायता और अपनी युक्ति का प्रयोग करना चाहिए। मिताक्षरा व्याख्याकार ने इन चार प्रमाणों को मानुषी और दैविक<sup>14</sup> दो भागों में विभक्त किया है। प्रमाणों में प्रथम तीन लिखित, उपभोग और साक्षी मानुषी और दिव्य को दैविक प्रमाणों की श्रेणी में रखा है।

किसी वस्त्र, ताम्रपट्ट या पत्र पर कहीं हुयी बातों को लिपिबद्ध करना लिखित प्रमाण कहलाता है। लेख्य प्रमाण शासन और जानपद दो प्रकार का होता है। “तत्र लेख्यं द्विविधम् शासनं जानपदं चेति”<sup>15</sup> राजा के द्वारा स्वयं लिखा हुआ पत्र शासन लेख्य कहलाता है। “स्वयं राजा समादिष्टः स लिखेद्राजशासनम्”<sup>16</sup>। यह लेख उत्तमोत्तम लेख माना जाता है। द्वितीय जानपद लेख जिसे चीरक लेख भी कहा जाता है। यह पुनः दो प्रकार का होता है “स्वहस्तकृतमन्यकृतं”<sup>17</sup> स्वहस्तकृत और अन्य हस्तकृत। स्वहस्तकृत से ही ज्ञात होता है कि जिसे अर्थी और प्रत्यर्थी स्वयं अपने हाथों से लिखते हैं तथा अन्यहस्तकृत लेख अन्य व्यक्ति या साक्षियों द्वारा लिखा गया लेख होता है। लेख की समाप्ति पर लेखक को नाम, जाति, गोत्र, पितृनाम आदि लिखना चाहिए तथा यह भी लिखें कि इस पत्र में जो भी लिखा है मुझ अमुक के द्वारा प्रमाणित है मैं इसे स्वीकारता हूँ और अन्त में हस्ताक्षर करके न्यायिक प्रमाण के लिए भेजना चाहिए।

समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत्।  
मतं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम्॥<sup>18</sup>

प्रमाणों की श्रेणी में भुक्ति प्रमाण का द्वितीय स्थान है। जिसके अन्तर्गत भूमि आदि विवादों को रखा है। ऐसे विवादों में लिखित प्रमाणों से ज्यादा भुक्ति प्रमाण को महत्त्व दिया जाता है। भुक्ति शब्द भुज् धातु वित्त्वं प्रत्यय के मेल से बना है जिसका वैधानिक अर्थ उपभोग, अधिकार या कब्जा होता है।<sup>19</sup> याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि यदि व्यक्ति को किसी विशेष वस्तु पर अपना स्वामित्व स्थापित करना हो तो न्यायालय में लिखित प्रमाण की अपेक्षा भुक्ति प्रमाण को प्रस्तुत करें। यथा—

आगमस्तु कृतो येन सोऽभियुक्तस्तमुद्धरेत्।  
न तत्सुतस्तत्सुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी॥<sup>20</sup>

अर्थात् जिस व्यक्ति ने स्वामित्व स्वीकार करके उसके पक्ष में लेखादि प्रमाण प्राप्त किया हो तो वह अभियोग चलाये जाने पर न्यायालय में उसे प्रस्तुत कर सकता है। किन्तु उसके पुत्र या पौत्र को लिखित प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिए भोग ही प्रमाण मान लिया जाता है। भोग के विषय में यह मान्यता है कि यदि न्यायपूर्वक किसी भी वस्तु या भूमि पर तीन पीढ़ियों से स्वामित्व होता आ रहा है तो उस वस्तु पर उस व्यक्ति का अधिकार मान लिया जाता है। पिता आदि तीन पूर्व पीढ़ियों के

क्रम से आये भोग को याज्ञवल्क्य ने निरपेक्ष प्रमाण के अन्तर्गत रखा है।

तृतीय साक्षी प्रमाण को व्यवहारिक कार्य में महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी ग्रन्थ में "साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्" 21 सूत्र के माध्यम से इसका वर्णन किया है। जिसका सामान्य अर्थ देखने वाला, अवलोकन करने वाला, गवाह तथा आँखों देखी बात को कहने वाला व्यक्ति होता है। 22

मिताक्षरा टीका में भी साक्षी के लिए "साक्षी च साक्षात् दर्शनाच्छ्रवणाच्च" 23 कहा है। जिस व्यक्ति ने साक्षात् विवादों को अपनी आँखों से देखा और कानों से सुना हो वही साक्षी कहलाता है। साक्षी दो प्रकार का होता है— कृत और अकृत। जिस प्रमाणित साक्षी को वादी और प्रतिवादी द्वारा निरूपित किया जाता है वह कृत साक्षी होता है। कृत साक्षी के पाँच भेद हैं— लिखित, स्मारित, यदृच्छित, गूढ़, उत्तर। वादी और प्रतिवादी के द्वारा अनियुक्त साक्षी को अकृत साक्षी कहते हैं। अकृत साक्षी के छः भेद हैं— ग्रामजन, प्राड्विवाक, राजा व्यवहारियों द्वारा भेजा गया, अर्थी का भेजा हुआ, कुल के विवादों में कुल का व्यक्ति। 24

साक्षी अर्थी और प्रत्यर्थी दोनों की ओर से प्रस्तुत किये जाते हैं। यदि दोनों पक्ष के साक्षियों में मत्तभेद उत्पन्न हो जाये तो बहुतां का वचन मानने योग्य होता है। समान की संख्या हो जाये तो अधिक गुणियों के साक्ष्य को प्रमाण मानना चाहिए। गुणियों की भी संख्या बराबर हो तो अधिक गुण वाले साक्षियों को ग्रहण करना चाहिए। यथा—

द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा।

गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः ॥ 25

स्मृति ग्रन्थों में साक्षियों के गुणों पर विशेष ध्यान दिया जाता था, क्योंकि असत्य बोलने वाले और कपटी साक्षियों के होने की आशंका बनी रहती थी। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने तपस्वी, दान देने में तत्पर, कुलीन, सन्तान युक्त, धनवान, सत्यवादी, धर्म के ज्ञाता, कोमल हृदय वाले, सरलस्वभाव तथा श्रौतस्मार्त क्रिया में रत ऐसे कम से कम तीन व्यक्ति को साक्षी के योग्य बतलाया 26 तथा इसके विपरीत स्त्री, बालक, 80 वर्ष से ऊपर वृद्ध पुरुष, पुजारी, मदिरा पान करने वाला, ब्रह्महत्यादि का दोषी, रंगावतारी, पाखण्डी, झूठा लेख लिखने वाला, अन्धा, बहरा, पतित, मित्र, धन देने वाला, सहायक, शत्रु, चोर, बलपूर्वक कार्य करवाने वाला, असत्य भाषी, परिवार द्वारा त्यागी व्यक्ति को साक्षी के अयोग्य माना है। 27

व्यवहारों में दिव्य प्रमाण को चतुर्थ एवं अन्तिम माना जाता है। यदि लिखित, भुक्ति व साक्षी प्रमाणों से विवादों का निर्णय न हो पाये तो दिव्य प्रमाण का आश्रय लेना चाहिए। याज्ञवल्क्य ऋषि ने माना है कि अभियोग में सत्यता की खोज करने के लिए अन्तिम दिव्य प्रमाण ही है। 28 धर्मशास्त्र के अनुसार— मानुष—प्रमाण से निश्चित न होने पर जो विवाद को तय करता है वह दिव्य कहलाता है। 29 दिव्य प्रमाण की संख्या में स्मृतिकारों में मत्तभेद पाये जाते हैं। परन्तु अधिकतर तुला, अग्नि, जल, विष और कोश को ही दिव्य प्रमाण मानते हैं। यथा—

तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये। 30

याज्ञवल्क्य के अनुसार किसी भी वर्ग की स्त्री, बालक, 80 वर्ष से अधिक वृद्ध व्यक्ति, अन्धा, लंगड़ा, ब्राह्मण और रोगी के लिए तुला, क्षत्रिय को अग्नि, वैश्य को जल और शुद्र को सात यव के बराबर विष का दिव्य करवाना चाहिए। यथा—

तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम्।

अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा ॥ 31

दिव्य प्रमाणों के समय अर्थी और प्रत्यर्थी दोनों पक्षों का होना आवश्यक है। जिस व्यक्ति से दिव्य क्रिया करवायी जाती है यदि वह अस्वस्थ या अयोग्य हो तो उसके स्थान पर कोई अन्य सज्जन व्यक्ति, मित्र एवं सगे-सम्बन्धी भी दिव्य ले सकते हैं। दिव्य को करने से एक दिन पूर्व ही न्यायाधीश और व्यक्ति को उपवास रखने दिया जाता है। अगले दिन सूर्योदय के समय स्नान करने के बाद सभा में बुलवाकर दिव्य की प्रक्रिया शुरु की जाती है। 32 क्रिया समाप्त होने के पश्चात् राजा विवादों का निर्णय सुनाते हैं। जिस प्रकार अन्य प्रमाणों पर विश्वास किया जाता है, उसी प्रकार दिव्य प्रमाण द्वारा लिये गये निर्णयों का भी सम्मान और आदर करना चाहिए।

व्यवहार—क्रिया का चतुर्थ पाद साध्यसिद्धि है। जय—पराजय के कारण इसे निर्णय पाद भी कहा जाता है। विधि के अनुसार यदि लिखित आदि प्रमाणों से अभियोग सिद्ध हो जाये तो अर्थी जयरूप सिद्धि को प्राप्त होता है अन्यथा वह हार जाता है— "तत्सिद्धौ सिद्धिमान्नोति विपरीतमतोऽन्यथा।" 33 अभियोग सिद्ध होने पर प्राड्विवाक जय और हीन पत्र पर हस्ताक्षर करके विजयी और हारने वाले व्यक्ति को देता है। 34 ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि भविष्य में विवाद पुनः उत्पन्न न हो सके।

स्मृति ग्रन्थ में गलत निर्णय लेने पर राजा और न्यायाधीश को दण्ड का प्रावधान भी किया गया है। इस पर याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

रागाल्लोभाद्भयाद्वाऽपि समृत्यपेतादिकारिणः।

सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादादद्विगुणं दमम् ॥ 35

अर्थात् सभा का सदस्य किसी व्यक्ति के प्रति स्नेह लोभ या भय के कारण व्यवहार में धर्म के विरुद्ध आचरण करें तो उस विवाद में पराजय व्यक्ति को जितना दण्ड लगा हो उसे उसके दुगुना द्रव्य पृथक्-पृथक् दण्ड के रूप में देना होता है। स्मृतिकार ने यह नियम सभासदों को भ्रष्ट होने से रोकने के लिए बनाया है ताकि ये नियुक्त सदस्य प्रजा कल्याण के लिए कार्य करे और धर्मानुसार विवादों का निर्णय ले।

### संधर्व सूची

1. याज्ञवल्क्यस्मृति, भूमिका भाग, पृष्ठ 7
2. वही, मिताक्षरा व्याख्या, पृष्ठ 161
3. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, पृष्ठ 1063
4. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.30
5. वही, मिताक्षरा व्याख्या, पृष्ठ 162
6. वही, 2.9
7. मनुस्मृति, 8.44
8. शङ्काभियोगस्तत्त्वाभियोगश्चेति, याज्ञवल्क्यस्मृति, मिताक्षरा व्याख्या, पृष्ठ 164
9. नारदस्मृति, 1.27
10. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.8
11. वही, मिताक्षरा व्याख्या, पृष्ठ 171
12. वही, 2.6
13. वही, 2.22
14. वही, पृष्ठ 180
15. वही, पृष्ठ 226
16. वही, पृष्ठ 142
17. वही, पृष्ठ 226
18. वही, 2.86
19. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, पृष्ठ 797
20. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.28
21. अष्टाध्यायी, 5.2.91
22. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, पृष्ठ 1178

23. याज्ञवल्क्यस्मृति, मिताक्षरा व्याख्या, पृष्ठ 215
24. वही, पृष्ठ 215
25. वही, 2.78
26. वही, 2.68–69
27. वही, 2.70–71
28. वही, 2.22
29. धर्मशास्त्र का इतिहास, द्वितीय भाग, पृष्ठ 748
30. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.95
31. वही, 2.98
32. वही, 2.97
33. वही, 2.8
34. वही, मिताक्षरा व्याख्या, पृष्ठ 230
35. वही, पृष्ठ 2.4